

अनन्तर/ जनसत्ता/ 21 अक्टूबर, 2007

उस दौर में

ओम थानवी

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के भाषा-चिंतन के आग्रहों पर बात करते हुए पिछली दफा लिखा था कि वे भारतेंदु हरिश्चंद्र के अपूर्व मुरीद थे। भारतेंदु के छंद 'हाय पंचनद-हा पानीपत' को एकाधिक बार उद्धृत करते हुए उन्होंने लिखा कि "(भारत के) उन ऐतिहासिक स्थलों और घटनाओं का स्मरण करने से यह कवि कब चूकता जिनके नाम मात्र हिंदू संतान के लिए कविता हैं।"

उस उक्ति के फौरन बाद आचार्य ने हिंदू-संतान को "भारत-संतान" लिखा। दुविधा न रहे, इस गर्ज से फिर "हिंदू" संबोधन का प्रयोग किया: "कौन ऐसा स्तब्ध और जड़ हिंदू होगा जिसके हृदय में इन नामों को सुनते ही अनेक प्रकार के भाव न उठने लगें।"

कविता को पढ़ने का यह तरीका समझना मेरे लिए मुश्किल है। जिसके मन में ऐसे भाव न उठें, वह क्या करेगा? क्या बहुधर्मी देश में अलग धर्मों के पाठकों के लिए अलग कविता लिखी जाएगी?

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ग्रंथावली की भूमिका में संपादक ओमप्रकाश सिंह ने "जीवन और कर्तृत्व" पर शुक्लजी के भतीजे चंद्रशेखर शुक्ल का हवाला देते हुए विस्तार में बताया है कि आचार्य के पिता "मुसलिम संस्कृति के रंग में रचे-बसे थे। उन्होंने अरबी का विशेष अध्ययन किया था।" आगे हमें खुद रामचंद्र शुक्ल के हवाले से पता चलता है: "पिताजी पर मुसलिम संस्कृति की एक तह और चढ़ी।... संगति के प्रभाव में उन्हें भी मांस खाने की सूझी।... पिताजी को बुलाकर (मां ने) कहा- हमारे लिए अब तुम तुरुक (मुसलमान) हो चुके।" कुछ हिदायतें सुनाकर मां ने कहा- "इसे भूलना मत। बस अब सामने से हट जाओ। पिताजी खड़े ही खड़े सब सुनते रहे और चुपचाप वहां से चल दिए।"

शुक्लजी के पिता तो खैर अरबी सीखकर मुसलिम संस्कृति के आक्षेप के भाजन बने। दुर्योग से बाद में देश में उर्दू भी मुसलमानों की भाषा प्रतिष्ठित हो गई। मांसाहार भी हमारे यहां मुसलिम संस्कृति से जोड़ कर देखा जाता था। मैदान के ब्राह्मण बहुत कर नहीं जानते कि पहाड़ी इलाकों में ब्राह्मण भी मांस खाते हैं।

जो हो, घर में कलह पैदा करने वाली उस कथित “मुसलिम संस्कृति” की आचार्य शुक्ल ने बड़े होकर हमेशा काट की, अरबी और मांसाहार से बहुत आगे जाकर। “फारसी-उर्दू की तालीम पाए हुए लोगों का गार्हस्थ बंधन बहुत ढीला देखा गया है” वाले उद्धरण से जुड़ा उनका वक्तव्य है: “यदि आज से चालीस वर्ष पहले कुछ दूरदर्शी महात्मा (हिंदी सेवी) समय की बिगड़ी हुई चाल के विरुद्ध खड़े होकर बल न लगाते तो... इन प्रदेशों के बहुत से आदमियों का गार्हस्थ जीवन किरकिरा होता चला जाता। उनके भावों से उनकी माता, पत्नी, भगिनी आदि के भावों की सहयोगिता बराबर घटती चली जाती और वे लाचार तवायफों की ‘अदबी खिदमात’ से अपना पेट भरते रहते। जिन परंपरागत पवित्र भावों का पोषण भारत की रमणियां दृढ़ता से करती आ रही हैं उनसे उन्हें अलग करने की अपेक्षा उन पुरुषों को अपने लिए दूसरे समाज में आनंद ढूंढना सहज था।”

भाषाई रोष का ऐसा वक्तव्य महापुरुषों की कलम से तभी निकलता है जब भाषा और संस्कृति की गांठ बहुत गहरी हो।

बहरहाल, शुक्लजी की विचारधारा में हिंदुत्व की मौजूदगी को लेकर लेखकों और आलोचकों में काफी चर्चा हो चुकी है। कथाकार जैनंद्र कुमार ने साठ के दशक में ‘स्मृतिपर्व’ में ‘शुक्लजी की मानसिक भूमिका’ लेख लिखा था- “पारिवारिक धर्म से आगे एक नागरिक धर्म की आवश्यकता है, जिसमें व्यक्ति समूचे समाज के प्रति अपने को दायी अनुभव करे... आधुनिक समाजवादी विचारों में जो सत्य है, उसे वह (शुक्लजी) न अपना सके।”

शुक्लजी का पुनर्मूल्यांकन करने वाला वीर भारत तलवार का एक लंबा लेख डॉ. नामवर सिंह ने ‘आलोचना’ (जुलाई-सितंबर 1985) में प्रकाशित किया था। आचार्य शुक्ल के सबसे बड़े तरफदार डॉ. रामविलास शर्मा ने इसे “वामपंथी अवसरवाद” बताया और पचानबे पृष्ठों का जवाब अपनी पुस्तक ‘आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना’ के अगले संस्करण (1987) में अलग अध्याय के रूप में जुड़वा दिया। अशोक वाजपेयी के संपादन में शुरू हुए ‘बहुवचन’ के पहले अंक (अक्टूबर-दिसंबर 1999) में सुधीश पचौरी ने ‘रामचंद्र शुक्ल की धर्म-भूमि’ लेख लिखा। शुक्लजी के लेख ‘क्षात्रधर्म का सौंदर्य’ (चिंतामणि-3, 1983, संपा. डॉ. नामवर सिंह) के बहाने उन्होंने आचार्य के ‘वर्णवाद’ को उठाया। उस पर भी हिंदी जगत में बहुत हलचल हुई थी।

लेकिन भाषाई विवाद में शुक्लजी की भूमिका परखने की चेष्टा शायद कम हुई है। हिंदी-उर्दू के झगड़े में ‘हिंदू-मुसलिम सांप्रदायिकता और अंगरेजी राज’ (1992) जैसा महत्त्वपूर्ण अध्ययन करने वाले कृपाशंकर सिंह ने शुक्लजी की भूमिका पर खास गौर करना नहीं चाहा। डॉ. पुरुषोत्तम अग्रवाल ने जरूर अपने एक लेख (1996 में ‘तीसरा रुख’ में संकलित) में ‘विशुद्ध हिंदी’ के पीछे दुबके आचार्य के ‘आत्मबोध’ की बात की है। शुक्ल ग्रंथावली पर पिछले पखवाड़े छपी टिप्पणी पढ़ने के बाद डॉ.

अग्रवाल ने ही मेरा ध्यान डॉ. कृष्ण कुमार की किताब 'पॉलिटिकल एजेंडा ऑव एजुकेशन' (1991) की तरफ दिलाया।

कृष्ण कुमार ने उच्च हिंदी शिक्षा की पाठ्यक्रम-पढ़ताल के संदर्भ में, संक्षेप में सही, हिंदी को हिंदू पहचान देने में शुक्लजी की भूमिका का साफ उल्लेख किया है। उसे पढ़कर मेरी उधेड़बुन कम हुई कि शुक्लजी के भाषा-विमर्श में संकीर्णता के दर्शन किसी पूर्वाग्रह के चलते तो नहीं हो गए!

भाषा पर आचार्य शुक्ल के एकांगी विचारों के समर्थन में एक ही तर्क सुनने को मिला कि वह दौर ही कुछ ऐसा था। यह वितर्क है। वह आजादी की लड़ाई का दौर था। उसे मिलकर लड़ा जाना था। धर्म-निरपेक्षता उसका बड़ा आधार था और संघर्ष की एक बड़ी खूबी भी। वास्तव में वह ऐसा दौर था, जिसमें बुद्धिजीवियों और विद्वानों से ज्यादा सूझ-बूझ बरते जाने की उम्मीद थी। यकीनन उस दौर में मुसलिम कट्टरवाद उर्दू को अरबी-फारसी ठूसकर जटिल बनाने पर आमादा था। इधर हिंदी के पंडित भी संस्कृत का झंडा लेकर हिंदी की पवित्रता बचाने के लिए मैदान में डटे हुए थे। शुक्लजी इनमें अगुवा थे।

दोनों तरफ आंदोलन चले। रणनीति बनी। जहां पानी उंडेलने की दरकार थी, वहां घी की आहुति दी गई। अभिव्यक्ति का मामला मानो नौकरियों के झगड़े में तब्दील हो गया। भाषा को लेकर दंगे हुए। अंगरेजों ने अदालतों की भाषा फारसी कर दी। इस बीच लिपि की खींचतान शुरू हो गई। नागरी प्रचारिणी सभा और अंजुमन तरक्की-ए-उर्दू जैसी संस्थाएं बनीं। बनारस हिंदू विश्वविद्यालय। फिर अलीगढ़ मुसलिम युनिवर्सिटी। इसी तरह मुसलिम लीग, हिंदू महासभा। और आर्य समाज। यह धड़ेबंदी बढ़ती गई। भाषा उसमें तब तक अहम घटक बन चुकी थी।

हिंदू नवजागरण के लिए जी-जान से जुटे आर्य समाज ने शुद्ध हिंदी के प्रचार-प्रसार में बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया। देवनागरी की मुहिम उसने नागरी प्रचारिणी सभा के मुकाबले कहीं जोर से चलाई। देखते-देखते हिंदी और हिंदू राष्ट्रवाद जैसे एक पटरी पर चलने लगे। लाला लाजपतराय ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि 1880 में हिंदी-उर्दू विवाद के जोर पकड़ने की वजह से वे हिंदू राष्ट्रवाद के समर्थक हो गए।

समझा जाता है कि दोनों समुदायों को बांटकर रखना अंग्रेजों की नीति थी। उन्होंने धर्म के आधार पर शिक्षा देने की शुरुआत की। कलकत्ता में मदरसे और संस्कृत पाठशालाएं एक साथ खोलीं। हालांकि उर्दू हिंदी की एक शाखा के रूप में पनपी थी। हिंदी की भाषिक संरचना में उसका वह रूप हिंदी या हिंदवी कहलाया। कृपाशंकर सिंह के मुताबिक अंग्रेज शिक्षक जॉन गिलक्रिस्ट ने उसे हिंदुस्तानी नाम देकर 'हिंदुओं की हिंदवी' से अलग किया। हिंदुस्तानी होते हुए वह रेखता, फिर उर्दू कहलाई।

इस तरह ढेर प्रादेशिक भाषाओं-बोलियों के बीच देश के कुछ हिस्सों में दोनों समुदायों के बीच बोली जाने वाली भाषा दो धर्मों में बांटकर आमने-सामने खड़ी कर दी गई। बाकी काम दोनों तरफ के विद्वानों ने पूरा किया। दो ऐसी भाषाएं स्थापित हुईं, जिन्हें अच्छी तरह केवल मौलवी समझ सकते थे या हिंदी के प्राध्यापक। चुन-चुन कर 'विजातीय' या 'विदेशी' शब्द बाहर निकाले गए। अलग खड़े होने में भाषाओं और कौम की सुरक्षा समझी गई!

गौर करने की बात यह है कि पूरे देश में भाषाएं धर्म के मुताबिक नहीं, क्षेत्र के अनुसार बोली जाती थीं। हिंदी-उर्दू उत्तर भारत का बड़ा भूभाग घेरती थीं। आम गरीब जनता में वह भाषा बगैर किसी नाम के या कहीं अलग-अलग नामों से बोली जाती रही। अब भी बोली जाती है। आपको भरोसा हो या नहीं, उसकी गूंज दिल्ली में अपने घर से थोड़ी दूर, खिजराबाद से सटे बगीचे में सैर के वक्त मैं रोज सुनता हूं- खेलते बच्चों और उन्हें पुकारती अनपढ़ मांओं के मुख से। कुछ रोज पहले इसी तरह रवां भाषा सुनकर शाहपुर जाट बस्ती की गली में ठिठक गया था। वह उनकी सीखी हुई भाषा नहीं है। उस जुबान में रती भर बोझ न अरबी-फारसी-तुर्की का है, न संस्कृत का। दोनों स्रोतों से जरूरत के मुताबिक सहजता से आ मिले शब्द वहां जाने कब से मौजूद हैं।

बोलचाल की आम भाषा मैंने पाकिस्तान में भी सुनी। पढ़े-लिखे लोगों में भारी शब्दों का थोड़ा तंज जरूर आ जाता है, वरना दोनों देशों में आज भी सामान्य बातचीत, खरीद-फरोख्त या बहस-मुबाहिसा आम जुबान में संभव है। आपकी हिंदी सुनकर पाकिस्तान में यह जुमला सुनने को मिलेगा- माशाअल्लाह! आपकी उर्दू बहुत उम्दा है। इधर पाकिस्तान के नागरिक जनपथ पर खरीदारी करते हैं तो भाषा से उनकी नागरिकता शायद ही कोई पकड़ पाता होगा।

अकारण नहीं है कि भारत के टीवी कार्यक्रम, हिंदी गाने और फिल्में पाकिस्तान में उनके अपने कार्यक्रमों से ज्यादा लोकप्रिय हैं। पाकिस्तान के कलाकार मुंबई आकर भारतीय टीवी कार्यक्रमों में बड़ी सहजता से शिरकत कर जाते हैं। किसी जमाने में पाकिस्तान के टीवी नाटक भारत में बहुत देखे जाते थे। हमारे यहां आज भी उर्दू संवादों वाली पुरानी फिल्मों- मुगले आजम सहित- को हिंदी फिल्मों कहा जाता है; साहिर-मजरूह का कलाम हो या नीरज का, सब हिंदी कहकर पुकारे जाते हैं।

शायद ऐसी ही भाषा को गांधीजी ने कभी हिंदी-हिंदुस्तानी, हिंदी और कभी हिंदुस्तानी कहा। बरसों इसके लिए वे हिंदी साहित्य सम्मेलन से जुड़े रहे। सम्मेलन के इंदौर में हुए 1918 और 1935 के अधिवेशनों की अध्यक्षता करने गए। वहां पुरुषोत्तमदास टंडन जैसे विद्वान किसी समझौते को तैयार नहीं हुए तो हारकर गांधीजी ने समांतर हिंदुस्तानी प्रचार सभा गठित करवाई। वे जानते थे कि वैमनस्य भड़काने में भाषा कितना बड़ा मुद्दा बन सकती है। मद्रास और पाकिस्तान में कराची के दंगों में यह हमने

देर तक देखा है। अभी दो दशक पहले पंजाब में भड़की खालिस्तान की आग के पीछे भाषा बहुत बड़ा कारण थी।

सौहार्द के नजरिए से सही, गांधीजी की मुराद उस भाषा से थी जिसे देहात के हिंदू-मुसलमान आम बोलचाल के लिए इस्तेमाल करते थे। उनका कहना था, “देहाती (मिली-जुली) बोली में मैं जो माधुर्य देखता हूँ, वह न लखनऊ के मुसलमान भाइयों की बोली में और न प्रयाग के पंडितों की बोली में पाया जाता है।” उन्होंने पढ़े-लिखे लोगों से यह गुजारिश की कि दोनों भाषाओं में आपसी मेल-जोल बढ़ाएं। जाहिर है, उनका लक्ष्य बड़ा था- महज संप्रेषण नहीं, देश की एकता।

आजादी करीब आती गई तो राष्ट्रभाषा का झगड़ा विकट होता गया। गांधी शुरू से मिली-जुली ‘देहाती मिठास वाली’ हिंदी को राष्ट्र की संपर्क-भाषा यानी राष्ट्रभाषा के रूप में देखते थे। लिपि के लिए पहले उन्होंने फारसी और देवनागरी दोनों की बात की, पर बाद में उन्होंने एक भाषा-एक लिपि का मत व्यक्त किया। बोलचाल की भाषा- जो बनावटी या अप्राकृतिक न हो; न संस्कृतनिष्ठ हिंदी, न फारसी से लकदक उर्दू। “फारसी और देवनागरी लिपियों में अंततः देवनागरी आगे (विजित) रह जाएगी”, ऐसा उन्होंने अपने एक उपवास संकल्प के छठे दिन प्रार्थना के बाद बिस्तर पर लेटे लिखा। मृत्यु से पांच रोज पहले 25 जनवरी, 1948 को यह विचार ‘हरिजन सेवक’ में छपा।

आचार्य शुक्ल का प्रयाण गांधीजी से सात साल पहले हो गया था। पर भाषा का मतभेद पुराना था। गांधीजी ने भाषा पर चिंतन ‘हिंद स्वराज’ (1910) में शुरू कर दिया था। शुक्लजी उस देहाती भाषा के पक्ष में नहीं थे। जाहिर है, उस नाजुक दौर में एक बड़े ध्येय से आचार्य शुक्ल ने मुंह मोड़ लिया। जबकि उसी दौर में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और फिर प्रेमचंद गांधीजी की सहज-सरल भाषा की राह के समर्थक थे। इसलिए यह कहना उचित नहीं होगा कि शुक्लजी के एकांगी विचार उस वक्त की उपज थे। साहित्य और भाषा-विमर्श में वे 1940 तक सक्रिय रहे; उस वर्ष उन्होंने ‘हिंदी साहित्य का इतिहास’ में ‘आवश्यक संशोधन’ कर उसे संशोधित और प्रवर्धित किया। पर भाषा संबंधी उनकी टिप्पणियां ‘साहित्य’ में वही रहीं।

यों गांधीजी या उनकी ‘हिंदुस्तानी’ का विरोध शुक्लजी परोक्ष रूप से करते थे। मगर बाद में गांधीजी की और नीतियों का सीधा विरोध करने लगे। 1920 में कांग्रेस ने ‘हिंदुस्तानी’ को मान्यता देने का प्रस्ताव पारित किया। 1921 में ‘एक्सप्रेस बांकीपुर’ नामक पत्र में शुक्लजी ने एक कड़ा लेख गांधीजी के विरुद्ध लिखा। ग्रंथावली में मूल लेख के साथ “असहयोग और अव्यापारिक श्रेणियां” शीर्षक से कुसुम चतुर्वेदी का किया हिंदी अनुवाद शामिल है।

अहिंसा के बारे में शुक्लजी का कहना था: “मि. गांधी योरपीय आंदोलनकारी के सारे युक्ति कौशल में प्रशिक्षित होकर दक्षिण अफ्रीका से आए हैं।... उनकी अहिंसा किसी भी प्रकार शांति एवं व्यवस्था का पर्याय नहीं है।” असहयोग आंदोलन के बारे में उनका मानना था कि यह “असहयोग की अनिश्चित योजना” अन्याय का निराकरण नहीं कर पाएगी। आंदोलन को उन्होंने “लक्ष्यहीन और असंतुलित चरित्र” का बताया। उन्होंने इस बात पर अफसोस सा प्रकट किया कि “लोकमान्य तिलक की मृत्यु ने राष्ट्रवादियों के पूरे दल को मि. गांधी की अनुकम्पा पर छोड़ दिया है।” स्वराज के बारे में कहा- “मि. गांधी के स्वराज संबंधी विचार कल्पना विलासी हैं।” लेख में “मध्यस्थ बनियों” को कोसते हुए “ब्राह्मण, क्षत्रिय, कायस्थ तथा कुछ अन्य” लोगों की पुरजोर तरफदारी की गई जो “प्रशासकीय ढांचे के अंग रहे हैं।”

भाषा को लेकर भी उन्होंने कई टिप्पणियां कीं। 1938 में भी- जब गांधीजी के भाषा सरोकार से अनेक लेखक और पत्रकार सहमत हो चले थे- शुक्लजी ने नागरी प्रचारिणी पत्रिका में “हिंदी और हिंदुस्तानी” लेख में लिखा: “जो लोग राजनीतिक दृष्टि से हिंदू मुसलिम एकता अत्यंत आवश्यक समझते हैं वे एक बीच का रास्ता पकड़ कर ‘हिंदुस्तानी’ लेकर उठे हैं।... हम भोली भाली जनता को इस ‘हिंदुस्तानी’ से सावधान करना अत्यंत आवश्यक समझते हैं। जो हिंदुस्तानी इन लोगों के ध्यान में है वह थोड़ी छनी हुई उर्दू के सिवा और कुछ नहीं है।”

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, गांधीजी की तरह, “विशुद्ध” हिंदी के पक्षधर नहीं थे। शुक्लजी की भृकुटि उनकी तरफ भी तनी। 1913 में सरस्वती के एक अंक में द्विवेदीजी ने संपादकीय टिप्पणी में क्लिष्ट और सरल हिंदी का मुद्दा उठाते हुए लिखा: “क्लिष्ट हिंदी में संस्कृत के (अटपटे) शब्दों की भरमार रहती है, सरल हिंदी बोलचाल की भाषा में लिखी जाती है।... साहित्य की भाषा सर्वसाधारण की भाषा से पृथक नहीं होनी चाहिए।... संस्कृत, उर्दू, अंगरेजी आदि अन्य भाषाओं के सरल और सुबोध शब्द जो प्रचलित हों उनका त्याग न किया जाय।... हां, विषय की गंभीरता के लिहाज से भाषा भी गंभीर होगी तथा उसमें अपेक्षाकृत क्लिष्टता भी आवेगी। परंतु केवल विद्वत्ता प्रकट करने के लिए मौके-बेमौके सब जगह दुर्बोध और क्लिष्ट संस्कृत शब्दों से भरी हुई हिंदी लिखना शक्ति और समय का दुरुपयोग करना है।...”

आचार्य शुक्ल ‘सरस्वती’ की ‘सरल हिंदी’ पर यह टिप्पणी पहले ही कर चुके थे: “यह पत्रिका सरलता के इतना पीछे पड़ी है कि कभी-कभी साधारण प्रचलित शब्द भी बिना अरबी टीका के नहीं जाने पाते... जो मनुष्य ‘सर्वथा’ और ‘अंश’ को समझ सकता था, क्या वह ‘प्रगट’ को न समझता जो फिर से ‘जाहिर’ लिखने की जरूरत महसूस हुई।” आचार्य शुक्ल भले ‘जाहिर’ को अवांछित बता रहे थे, पर सहज भाव में खुद ‘जरूरत’ लिख रहे थे, ‘आवश्यकता’ नहीं!

‘हिंदी साहित्य का इतिहास’ में शुक्लजी ने आचार्य द्विवेदी के निबंध साहित्य की विशेषता यह बताई- “लिखने की सफलता वे (द्विवेदीजी) इस बात में मानते थे कि कठिन से कठिन विषय को भी ऐसे सरल रूप में रख दिया जाय कि साधारण समझ वाले पाठक भी उसे बहुत कुछ समझ जाएं।” लेकिन अगले ही पृष्ठ पर यह तीखी टिप्पणी जड़ी: “द्विवेदीजी के लेखों को पढ़ने से ऐसा जान पड़ता है कि लेखक बहुत मोटी अकल के पाठकों के लिए लिख रहा है।”

शुक्लजी हिंदी में ‘उर्दू शब्दों के आंशिक’ इस्तेमाल की छूट देते थे, पर उनकी टिप्पणियां पढ़ें तो लगता है पाठ में ‘विदेशी’ शब्दों को वे बीनते थे। ‘प्रेमसागर’ के रचयिता लल्लूलाल के लेखन में ‘विदेशी शब्दों के न आने की प्रतिज्ञा’ लक्ष्य करते हुए वे कुछ शब्द वहां ढूंढ़ निकालते हैं: “लल्लूलालजी अनजाने में कहीं कहीं ऐसे शब्द लिख गए हैं जो फारसी या तुर्की के हैं। जैसे ‘बैरख’ शब्द तुर्की का बैरक है, जिसका अर्थ झण्डा है।... पर ऐसे शब्द दो ही चार जगह आए हैं।”

भाषा में सरलता के मुद्दे पर आचार्य शुक्ल बाबू देवकीनंदन खत्री के बहाने कहते हैं कि सरल भाषा या हिंदुस्तानी हलकी रचनाओं के लिए ठीक है, साहित्य के लिए नहीं। खत्री को उन्होंने हिंदी का “पहला मौलिक उपन्यास लेखक” बताया, जिनके उपन्यासों की “सर्वसाधारण में धूम” थी। शुक्लजी कहते हैं: “जितने पाठक उन्होंने उत्पन्न किए उतने और किसी ग्रंथकार ने नहीं। चंद्रकांता पढ़ने के लिए न जाने कितने उर्दूजीवी लोगों ने हिंदी सीखी। चंद्रकांता और चंद्रकांता संतति पढ़कर न जाने कितने युवक हिंदी के लेखक हो गए।... कहना चाहें तो कह सकते हैं उन्होंने साहित्यिक हिंदी न लिखकर ‘हिंदुस्तानी’ लिखी, जो केवल इसी प्रकार की हलकी रचनाओं में काम दे सकती है।”

साहित्य और इतर दुनिया में सरल और दुश्कर भाषा का राग हिंदी में ही पनपा। राममनोहर लोहिया किसी भाषा की खूबी इसमें मानते थे कि वह हर तरह का काम दे सके। प्रसंगवश, अर्नेस्ट हेमिंग्वे का उपन्यास ‘ओल्ड मेन एंड द सी’ - जो दुनिया के महान उपन्यासों में शरीक है- सिर्फ दो हजार शब्दों के भीतर लिखा गया था, जिनमें ‘इज’ और ‘आर’ भी शामिल थे।

असल में मुश्किल यह है कि सरल भाषा लिखना सबसे मुश्किल काम है। दूसरे, सरल भाषा सरल शब्दों भर से नहीं बन पाती। इसके बहुत उदाहरण मिलेंगे जहां शब्द हमें समझ पड़ते हैं, क्या कहा जा रहा है वह नहीं।

जैनेंद्र कुमार ने आचार्य शुक्ल के ‘मतवाद’ की बात कही है। जैनेंद्र साहित्य में 1929 में आए, उनका चलता जिक्र ‘साहित्य’ में है। पर प्रेमचंद शुक्लजी के सामने स्थापित हो चुके थे। उनसे पहले वे चले भी गए। प्रेमचंद की मृत्यु के एक साल बाद निकले प्रवर्धित ‘इतिहास’ में प्रशंसा के बावजूद

उपन्यास-सम्राट हाशिए पर हैं। क्या इसलिए कि प्रेमचंद प्रगतिगामी थे, गांधीजी के समर्थक थे और उर्दू से हिंदी में आकर उर्दू शब्दों से परहेज न करने वाली हिंदी लिख रहे थे?

प्रेमचंद ने 1930 में 'जमाना' पत्रिका में एक लेख में यह लिखकर हिंदी के प्रचारकों और विचारकों को- जो हिंदुओं की हिंदी में हिंद का गौरव देखते थे- चौंका दिया कि उर्दू बोलने वाले हिंदू और मुसलमानों की तादाद कमोबेश समान है: "आज करोड़ों हिंदू उर्दू पढ़ते हैं, लाखों लिखते हैं, हजारों इसी ज़बान में साहित्य-रचना करते हैं चाहे कविता में, चाहे गद्य में, और उर्दू की हस्ती हिंदुओं के सहयोग से कायम है।... अगर इस बात की छानबीन का कोई सही तरीका हो कि कितने हिंदू उर्दू बोलते हैं और कितने मुसलमान तो मेरे खयाल में दोनों की तादाद में बहुत ज्यादा फर्क न नजर आएगा। यह दूसरी बात है कि हजरत नियाज हिंदुओं की उर्दू को उर्दू ही न कहें।... उर्दू न मुसलमान की बपौती है, न हिंदू की।"

शुक्लजी भाषा के मामले में जब-तब उदार नजरिए का इजहार करते थे। पर उनकी मूल धारा में वह टिकता नहीं था। मसलन वे कहते हैं, "हिंदी उन फारसी व अरबी शब्दों को अपनाने में जरा संकोच नहीं करती जो लोगों के व्यवहार में आ गए हैं।" लेकिन उन्हीं के शब्द हैं: "निज भाषा के किसी शब्द से जिस मात्रा का भाव उद्भूत होता है उस मात्रा का समान अर्थवाची किसी विदेशीय शब्द से नहीं। क्योंकि पहिले तो विजातीय शब्दों की ध्वनि ही हमारी स्वाभाविक रुचि से मेल नहीं खाती, दूसरे वे विस्तार में हमारे मानसिक संस्कार के नाप के नहीं होते।"

मालूम नहीं कि आदमी, औरत, बच्चा, दुनिया, हवा, जमीन, आसमान, आम, खास, अंगूर, मशाल, चरखा, गरमी, सर्दी, दोस्ती, शुरू, खत्म, दुश्मनी, मकान, दुकान, सवाल, जवाब, जिंदगी, मौत, हिसाब, किताब या कागज-लिफाफा जैसे 'विदेशी' शब्दों से हमारे मानसिक संस्कार का नाप कैसे बिगड़ता है!

ऐसे शब्दों की सूची बेहिसाब होगी जो अरबी, फारसी या तुर्की भाषाओं से मानो टहलते हुए आए और यहां बस गए। वे मिली-जुली बोलचाल की भाषा में आए, उर्दू का हिस्सा बने और हिंदी का अंग इस कदर बन गए कि उन्हें 'विजातीय' शब्द ठहराना दूर, अलग से पहचानना मुश्किल होगा। ऐसा नहीं कि उनके पर्याय संस्कृत-हिंदी में नहीं होंगे। इसके बावजूद यह कल्पना करना मुश्किल है कि इन शब्दों को हिंदी से निकाल दें तो बोलचाल में कितनी जान रह जाएगी। अखबारों और टीवी-रेडियो का जाने क्या हाल होगा, जो आमफहम शब्दों के माध्यम से ज्यादा से ज्यादा लोगों तक पहुंचना चाहते हैं। हालांकि वहां अब अंगरेजी शब्दों का प्रयोग बहुत बढ़ चला है। मिली-जुली भाषा की दलील पर अंगरेजी के मेल को उचित नहीं ठहराया जा सकता। जैसा कि पहले कहा गया, उर्दू की बुनियाद हिंदी के

व्याकरण, क्रिया-पद, संज्ञा-पद और कारक-चिह्नों के सहारे पड़ी। उसकी तुलना अंगरेजी से करना मुनासिब नहीं होगा।

हिंदी से बैर रखने वाले प्रसिद्ध शायर रघुपति सहाय 'फिराक' ने एक किताब हिंदी में लिखी (लिखवाई) थी- उर्दू भाषा और साहित्य (1962)। उसमें उन्होंने हिंदी में शरीक अरबी-फारसी के शब्दों के मुद्दे पर बड़ा सटीक विवेचन किया है। उनके अनुसार "केवल वे अरबी-फारसी शब्द मिली-जुली हिंदी में आए जिनसे कान के परदों को ठेस न लगे।... वे ही दो-चार हजार शब्द उर्दू में सम्मिलित किए गए जिनकी बनावट, रंग-रूप और आवाज पचासों हजार शुद्ध हिंदी शब्दों से मिलती थी।" खयाल करें, फिराक साहब उर्दू के गठन की दास्तान कह रहे हैं। उससे फायदा हम हिंदी भाषियों को कम नहीं हुआ।

आचार्य शुक्ल की इस संबंध में सशक्त राय यों थी: "जिन विचारों के लिए हिंदी वा संस्कृत शब्द न मिलें उनको प्रगट करने के लिए हम विजातीय शब्द लाकर अपनी भाषा की वृद्धि मान सकते हैं। एक ही वस्तु के लिए अनेक शब्दों के होने से भाषा की क्रिया में कुछ उन्नति नहीं होती। जैसे सूर्य के लिए रवि, मार्तण्ड, प्रभाकर, दिवाकर और चन्द्रमा के लिए शशि, इन्दु, विधु, मयंक आदि बहुत से शब्दों के होने से भाषा की व्यंजक शक्ति में कुछ भी वृद्धि नहीं होती, केवल ध्वनि की भिन्नता वा नवीनता से हमारा मनोरंजन होता है और भाषा में एक प्रकार का चमत्कार आ जाता है जो कविता के लिए आवश्यक है।"

यानी शुक्लजी उन्हीं बाहरी शब्दों को हिंदी में लाने की सम्मति देते हैं जिनके लिए कोई हिंदी या संस्कृत शब्द हमारे पास न हो। पर्याय जमा करने या गद्य में प्रयोग करने से वे सहमत नहीं। पर यह मानने वाले विद्वान भी हैं कि भाषा में कोई शब्द दूसरे का पर्याय नहीं होता। समान अर्थ के बावजूद शब्द की अपनी ध्वनि, लोच और चमक होती है। लय और सौंदर्य की निष्पत्ति पद्य के अलावा अच्छे गद्य में भी संभव है। औषध और दवा या क्रोध और गुस्सा पर्यायवाची होकर भी अपना अलग रंग रखते हैं। मुहावरों में दाखिल होते ही यह भेद को साफ लक्ष्य होता है। मसलन, मर्द का बच्चा पुरुष का पुत्र होते ही समान शब्दों के बावजूद अर्थ खो देता है।

पर्याय भर नहीं, हिंदी में अरबी-फारसी के कई ऐसे शब्द आए हैं जिनमें अर्थों की कई परतें हैं। अरबी के साफ या खराब जैसे शब्दों के ढेर जुदा प्रयोगों के उदाहरण 'फिराक' साहब ने अपनी छोटी-सी किताब में दिए हैं। लेकिन सबसे दिलचस्प सैकड़ों युग्म प्रयोगों की एक फेहरिस्त है। इनमें एक शब्द संस्कृत मूल का है और दूसरा अरबी-फारसी या तुर्की का। मिली-जुली भाषा की परंपरा में- जो उच्च शिक्षा के दौर में भले ढलान पर हो- ये शब्द साथ-साथ प्रयोग होते हैं, उदाहरण के लिए:

शादी-ब्याह, हंसी-खुशी, खोज-खबर, गांठ-गिरह, धन-दौलत, गाली-गुफ्तार, हंसी-मजाक, बाल-बच्चे, हल्ला-पूरी, सुबह-सबेरे, देर-सबेर, कागज-पत्तर, नोक-झोंक, नोक-पलक, बैठक-बाज, दंगा-फसाद, हाट-बाजार, चोली-दामन, लाज-शर्म, दीन-धरम, खेल-तमाशा, थानेदार, मोतीमहल, अलीगढ़, मुजफ्फरनगर...।

कोई जरा इस मेल-मिलाप की काट ढूंढ कर बताए !